भारतीय संसदीय प्रणाली का समालोचनात्मक विश्लेषण

डॉ0 रोचना मित्तल
एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग
शम्भु दयाल (पीजी) कॉलेज, गाजियाबाद
Email: rochanaagrawal48@gmail.com

सारांश

भारतीय संसदीय शासन व्यवस्था ब्रिटिश शासन के अंतर्गत हुये राजनीतिक विकसा की नींव पर आधारित है। उस समय में क्रमिक विकास के परिणाम स्वरूप जो अधिनियम 1858 से बने इन्हीं के विकास क्रम में 1935 के संसदीय अधिनियम को लगभग ज्यों का त्यों संविधान में शामिल किया गया है। भारतीय संसदीय व्यवस्था का श्रेय उन स्वस्थ्य संसदीय परम्पराओं और प्रक्रियाओं को दिया जा सकता है जिन्हें विगत वर्षों में विकसित किया गया। संविधान सभा ने बहुत विचार मंथन के बाद भारत के शासन को संचालित करने कि लिये ब्रिटिश माडल को ही उचित माना। इस शोध पत्र का उद्देश्य भारतीय संसदीय व्यवस्था की प्रकृति को दृष्टिगत करते हुये संविधान सभा द्वारा चयनित संसदीय प्रणाली पर संचालित भारतीय शासन व्यवस्था के गुण दोषों का मूल्यांकन करना है। इस शोध अध्ययन की शोध सामाग्री अधिकांशतः द्वितीय स्त्रोंतो से ग्रहण की गयी है। साथ ही यह शोध पत्र व्यक्तिगत अनुभवों पर आधारित है।

Reference to this paper should be made as follows:

Received: 14.09.2020
Approved: 30.09.2020

डॉ0 रोचना मित्तल

भारतीय संसदीय प्रणाली का समालोचनात्मक विश्लेषण

RJPP 2020,
Vol. XVIII, No. II,
pp.258-2
Article No. 32

Online available at *:*
https://anubooks.com/?page_id=6391

संसद और विधानमण्डल लोकतंत्र का आधार है। जनप्रतिनिधि सदनों में कानून बनाते हैं। सरकार को जवाबदेह बनाते हैं। महत्वपूर्ण विषयों पर सत्तापक्ष व विपक्ष चर्चा करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने संसदीय व्यवस्था को संविधान का आधारिक ढाँचा बताया था। लेकिन काफी लम्बे समय से विधायी सदनो में गतिरोध है। विपक्ष के कुछ सांसद विधायक विचार स्वातंत्र्य को हंगामो स्वातंत्र्य मानते हैं। वे तख्ती लेकर हुल्लड़ मचाने और व्यवधान को भी संसदीय कार्यवाही का अंग मानते हैं। राष्ट्रीय चुनौतियों और जनहित के मूलभूत प्रश्नों पर चर्चा कम होती है। सदन वाद–विवाद संवाद के पवित्र स्थल हैं। सदनों की कार्यवाही से ही सरकार की जवाबदेही सुनिचित होती हैं, लेकिन काफी समय से सदन में बाधा डालने, नियमावली को तार–तार करने का चलन बढ़ा है। संसद के सत्रों में लगातार आती बाधाएँ संसदीय व्यवस्था के प्रति जनमानस में निराशा को जन्म दे रही है। संसदीय व्यवहार का पराभव खतरे की घंटी हैं। सदन हंगामें के स्थल हो रहे हैं। भात के लोग अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों को शोर मचाते देखकर आहत हैं। भारत के संसदीय लोकतंत्र में अभिसमयों का विकास उस ढंग से नहीं हो रहा है जैसा कि इंग्लैंड में हुआ है। इंग्लैंड का संसदीय लोकतंत्र अभिसमयों के बिना नहीं चल सकता क्योंकि विधि आकस्मिक घटनाओं के लिये पूर्वानुमान से प्रावधान करने में समर्थ नहीं है। अभिसमय राजनीतिक आचरण के वे नियम हैं, जिनकी स्थापना परिनियमों, न्यायिक निर्णयों के अंतर्गत नहीं होती बल्कि उनके पूरक के रूप में संसदीय परम्पराओं को सुदृढ़ करने के लिये होती है। भारत का विगत 10 वर्षों का संसदीय आचरण यह सिद्ध करता है कि हमारे राजनीतिक दल यह समझने और मानने में असमर्थ रहे हैं कि शासन में चाहे नीतिगत प्रशन हों और चाहे नित्यप्रति का प्रशासनिक कार्यक्षेत्र हो, इन सबमें गतिशीलता अभिसमयों द्वारा ही प्रदान की जा सकती है। संसदात्मक प्रणाली में ही नहीं बल्कि संसार की सभी शासन प्रणालियों में अभिसमय स्वाभाविक रूप से पैदा होते हैं और उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। संसदात्मक लोकतंत्र में स्वस्थ अभिसमयों का संरक्षण अत्यंत आवश्यक होता हैं क्योंकि इस प्रणाली में मूलतः कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को जन इच्छा के प्रति उतरदायी रहना पड़ता है। उदाहरण के लिये इस प्रणाली में नीति निर्धारण का कार्य कैबिनेट का है, लेकिन क्या कोई भी कैबिनेट ऐसा करते समय अपने दल की प्रबल भावनाओं का विरोध कर सकती है? संसदात्मक प्रणाली में अन्य की तुलना में बहुत अधिक गतिशीलता होती है। 1960 में जब भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने संविधान के अंतर्गत राष्ट्रपति बनाम प्रधानमंत्री के प्रश्न की बात छेड़ी तब भारतीय संविधान में राष्ट्रपति की वास्तविक भूमिका और प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति की सापेक्षिक स्थिति को लेकर एक लम्बी अवधि तक सैद्धान्तिक वाद–विवाद चलता रहा। लेकिन भारत की संसदीय प्रणाली और विकासशील राजनैतिक व्यवहारों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत में राष्ट्रपति की भूमिका एक संवैधानिक प्रमुख की है।

भारत में अब इस तरह की बहसे कम होती जा रही हैं और उनके स्थान में संसदीय कार्यों में गतिरोध उत्पन्न करने की प्रवृतियां बढ़ती जा रही है। परिणाम यह है कि आज आम जनता के मन में संसद की गरिमा कम होती जा रही है। इसका मूल कारण संसदीय परम्पराओं का ह्रास है। इंग्लैंड में संसदात्मक प्रजातंत्र वहां की उभरती हुई सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक

परिस्थितियों में परम्पराओं के बल पर विकसित हुआ है। भारत में संसदीय प्रजातंत्र को लिखित संविधान में बांधकर रोपा गया है और यही कारण है कि विगत 65 वर्षों में देश की बदलती हुई सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों में संविधान में 110 से अधिक संशोधन करने पड़े है। भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया कठोर होते हुए भी लचीलेपन के गुणों से युक्त है। लेकिन यदि हम संवैधानिक संशोधनों के स्थान पर कुछ ऐसी परम्पराओं को अपनायें जो भारतीय परिप्रेक्ष्य में संसदीय लोकतंत्र को मजबूत करें तो ज्यादा बेहतर होगा। हम अपने संविधान की समीक्षा के स्थान पर अच्छी परम्पराएं डालने का प्रयास करें, जिनके सहारे हम 21वीं सदी में उत्पन्न हो रही राजनीतिक परिस्थितियों का मुकाबला कर सकें और स्वस्थ लोकतंत्र का विकास कर सकें। संविधान रूपी हड्डी के ढ़ाचें में रक्त और मांस शुद्ध हों, शरीर की आवश्यकतानुसार हों अर्थात् भारतीय संविधान में व्यापक संशोधन के स्थान पर हम स्वस्थ परम्पराएं निर्मित करें और उनके माध्यम से भारतीय लोकतंत्र को स्वस्थ बनाने के प्रयास करें। इसके लिये भारत के वर्तमान राजनीतिक दलों के बीच राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानते हुए सामंजस्य की भावना पैदा करनी होगी और तभी ऐसी परम्पराएं नैसर्गिक आदर प्राप्त करने में सफल होंगी। स्वस्थ परम्पराएं संविधान की मूल आत्मा तक पहुंचने का साधन होती है। यह सही है कि विगत 60 वर्षों में भारत में प्रजातंत्र की जड़ें मजबूत हुई है किन्तु इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि हमारा प्रजातंत्र और संसदीय आचरण गुणात्मक दृष्टि से पुष्पित और पल्लवित नही हो सका है। हमने अनेक दिशाओं में आशातीत प्रगति की है जिसे विश्व के सभी देश स्वीकार करते हैं किन्तु अनेक दिशाओं में हमारी उपलब्धियाँ निराशाजनक रही है। बहुत कुछ सीमा तक राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त नैतिक अवमूल्यन, चरित्र पतन, नेतृत्व की सोच में संकीर्णता और सार्वजनिक जीवन में स्वच्छता का अभाव इसके लिये उत्तरदायी है। राजनीति में तद्र्थवाद को महत्व दिये जाने के कारण स्वस्थ परम्पराएं पनप नहीं रही हैं और जो स्थापित भी हुई हैं उन्हें भुलाने का प्रयास हो रहा है। उदाहरण के लिये आम चुनावों के लिये उम्मीदवारों को चयन करते समय राजनीतिक दलों द्वारा प्रत्याशी की योग्यता, निष्ठाा और जनसेवा को घ्यान में रखा जाता था लेकिन अब केवल चुनावी सफलता को ही ध्यान में रखा जाता है।

प्रजातंत्र का अर्थ केवल राजनीतिक प्रजातंत्र से नहीं हैं। यह जीवन की एक पद्धति है और जब तक व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रजातांत्रिक परम्पराएं नहीं डाली जायेंगी तब तक संसद की गरिमा को शीर्ष स्थान में बनायें रखना संभव नहीं होगा। संसद मात्र व्यवस्थपिका का सदन नहीं है बल्कि राष्ट्र की आम जनता के भविष्य का फैसला करने वाली संस्था है। संसद देश के करोड़ों लोगों की आशाओं का केन्द्र हैं और हमें यह नही भूलना चाहिए कि यदि संसद की गरिमा का ह्रास होता है तो इससे संसदीय लोकतंत्र प्रश्नचिन्ह के दायरे में आ जाता है। इसलिये भारत के सभी राजनीतिक दलों के नेताओं को इस बुनियादी प्रश्न पर विचार करना चाहिए। संसदीय आचरण संहिता इस दिशा में की गई मात्र एक पहल है, निदान नहीं। एक संसद सदस्य को सदन में अपनी बात कहने का विशेष अधिकार प्रदान किया गया है, जिस पर कोई न्यायिक कार्यवाही नहीं हो सकती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि संसद

सदस्य अपनी इस सीमा का उल्लंघन करें। प्रत्येक सांसद को नियमों की परिधि के भीतर ही अपना विरोध व्यक्त करना चाहिए और इसके लिये लोकतांत्रिक और शांतिपूर्ण तरीके अपनाने चाहिए। विगत वर्षों में ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब अनेक राजनीतिक दलों और सांसदों ने संसद का बहिष्कार किया हैं, संसदीय कार्यों में बाधाएँ उत्पन्न की हैं, जिनके कारण संसदीय कार्यवाहियों को स्थगित करना पड़ा हैं। आर्थिक दृष्टि से विचार किया जाये तो देश के करोड़ों रूपये का अपव्यय जाने या अनजाने इस तरीके से हो रहा है। आज संसदीय कार्यवाहियों का सीधा प्रसारण इलेक्ट्रानिक मीड़िया के माध्यम से होता हैं, जिसका सीधा असर जनमानस पर पड़ता है। अब तो अनेक लोग यह कहने लगे है कि जिस प्रकार ग्राम पंचायतों में पंच आदि के झगड़े होते हैं ठीक उसी प्रकार संसद में भी झगड़े होने लगे हैं। कुल मिलाकर इससे संसद की गरिमा घटती जा रही हैं। इसलिये हमारे सांसदों और राजनीतिक दलों को इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना चाहिए क्योंकि स्वस्थ परम्पराएं ही प्रजातंत्र की नींव को मजबूत कर सकती है। उदाहरण के लिये भारत में प्रत्येक स्तर पर सरकार का संगठन तो प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के आधार पर होता है किन्तु आज भी अनेक राजनीतिक दलों का संगठन प्रजातांत्रिक तरीके से नही हो पाया है। ऐसे अनेक राजनीतिक दल हैं जहॉ संगठन के लिये प्रत्येक स्तर पर चुनाव नहीं होते हैं अथवा दल के अन्दर नीति निर्माण की प्रक्रिया वास्तविक रूप से प्रजातांत्रिक पद्धति पर आधरित नहीं हैं।

यदि हम पाश्चात्य देशों में हुए प्रजातांत्रिक विकास पर गहन दृष्टि डालें तो यह पायेंगे कि वहां प्रजातंत्र का उदय सामंतावाद की कब्र पर हुआ हैं और जैसे–जैसे सामंतवादी, फासीवादी, नाजीवादी प्रवृत्तियों का अन्त हुआ है, वैसे ही वहॉ प्रजातंत्र में निखार आया है। पाश्चात्य देशों में विकसित उदारवादी प्रजातंत्र का एक प्रमुख सिद्धान्त यह रहा है कि नेतृत्व में ऐसे लोगों को बढ़ावा दिया जाये जो उसके योग्य हों और आम जनता का सही प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखते हों। किन्तु दुःख है कि हमारे देश में अनेक राजनीतिक दलों में प्रतिनिधियों का चयन योग्यता और सार्वजनिक सेवा को ध्यान में न रखकर उन अन्य बातों पर अधिक आधारित है जो स्वस्थ लोकतंत्र के लिये उचित नहीं हैं। आपराधिक पृष्ठभूमि वाले प्रत्याशियों की संख्या भी दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कई बार अवकाश प्राप्त या मृत सदस्य के पुत्र, पत्नी, भाई आदि को केवल इसलिये प्रत्याशी बना दिया जाता है कि निर्वाचन में वंश के प्रति भक्ति का लाभ लिया जा सके। इससे उस क्षेत्र के जनसेवी दलीय कार्यकर्ताओं की अवहेलना होती है। इस तरह भारतीय संसदीय लोकतंत्र के सफल क्रियान्वयन के लिये स्वस्थ परम्पराओं के निर्माण की आवश्यकता है। सामान्य रूप से परम्पराएं धीरे–धीरे बौद्धिक आचरण से बनती हैं, इसमें समय लगता है इसलिये आज आवश्यकता इस बात की है कि भारत के सभी राजनीतिक दल मिलकर स्वस्थ लोकतंत्र के विकास के लिये जागरूक होकर इस दिशा में निर्णय लें। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब अच्छे राजनैतिक आचरण के पक्ष में निरंतर जनमत तैयार किया जाये। जनमत का प्रभाव स्वस्थ परम्पराओं को जन्म दे सकता है। उदाहरण के लिये सरकारी पक्ष और विरोधी पक्ष में संबंध, एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें प्रबुद्ध जनमत अपनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह कर सकता है। आज संसद

में गठबंधन की सरकार है और निकट भविष्य में ऐसा प्रतीत होता है कि गठबंधन की सरकार का दौर अभी चलता ही रहेगा। इसलिये राष्ट्रहित में यह आवश्यक है कि संसद की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये राष्ट्रहित में विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच कुछ मुद्दों में आम सहमति बने। कौल और शकधर ने भी अपनी पुस्तक "संसदीय प्रणाली तथा व्यवहार" में यह आशा व्यक्त की है कि भारत में संसदीय प्रक्रिया अब अपने आप विकसित हो सकती है। हम समझतें है कि इसमें परिवर्तन की सहज शक्ति मौजूद है और यह अपने को नई स्थितियों और परिस्थितियों के अनुरूप बना सकती है। वर्तमान परिस्थितियों में यह स्वीकार करना ही पड़ेगा की संसद में सत्ता पक्ष के गठबंधन और विरोधी दलों के बीच नियामक अभिसमयों का अभाव कभी भी गैर प्रजातांत्रिक संघर्ष को जन्म दे सकता है।

संसदात्मक प्रजातंत्र में संसद, जनता और सरकार को जोड़ने वाली एक महत्वपूर्ण कड़ी होती है। संसद की कार्यकुशलता, उसका अनुशासन, उसमें होने वाले वाद–विवाद का स्तर, उसके सदस्यों की जागरूकता और सजगता, देश के प्रजातांत्रिक विकास का परिचालक होता है। आज राज्य के बढ़तें हुए कार्यों तथा जनता की बढ़ती और बिखरती हुई आकांक्षाओं के कारण संसद अपना कार्य उस ढंग से नही कर पा रही है जिसकी परिकल्पना संविधान निर्माताओं ने की थी। आज सांसदों की सुविधाओं और भत्तों के बढ़ाने के विधेयक प्रस्ताव पर सदन के सभी दलों और सदस्यों में आम सहमति बन जाती है जबकि राष्ट्रहित के अनेक मुद्दों पर संसद में बहस खत्म ही नहीं हो पाती क्योंकि उनका विरोध करने वाले राजनैतिक दल और उनके संसद सदस्य सदन का बहिष्कार करते हैं अथवा सदन की कार्यवाही को ठप्प करा देते है। इस विषय पर पुनर्विचार होना चाहिये कि क्या संसद बहस का स्थान है या बहिष्कार का। इस स्थिति पर अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए एक माननीय सदस्य ने तो यहाँ तक कहा है कि "यदि ऐसे माननीय सदस्यगण संसद को इतना निरर्थक मान चुके हैं कि वह बहिष्कार के योग्य है तो फिर क्या उन्हें अपनी सदस्यता से इस्तीफा नहीं देना चाहिए। जब वे यह मानते हैं कि संसद की बहस में भाग लेने का कोई अर्थ नहीं बचा तब उन्हें सांसद बने रहने का और वेतन तथा सुविधाएं लेते रहने का कौन सा औचित्य हैं?" संसद के गिरते हुए स्तर पर निवर्तमान प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने 1994 में लोकसभा में प्रतिपक्ष के नेता के रूप में गहरी चिन्ता व्यक्त की थी। दीर्घकालीन संसदीय अनुभव के बाद यदि अटल जी ने संसद के गिरते स्तर को शोचनीय माना है तो इसे उनकी हार्दिक पीड़ा ही समझना चाहिए। आज के प्रघानमंत्री का भी यह प्राथमिक दायित्व है कि वे संसद के गिरते स्तर पर गहन चिन्तन करें और उसे वह गौरव प्रदान कराने में सहायक हों जो संविधान निर्माता चाहते थे। भारत की राजनीतिक व्यवस्था में संसद का स्थान प्रमुख है और उसकी यह प्रमुखता कायम रहनी चाहिए।

संसद की उक्त स्थिति का प्रभाव प्रांतीय व्यवस्थापिका सदनों पर भी परिलक्षित होता है। प्रदेश की विधानसभाओं की स्थिति भी संसद से भिन्न नहीं है। यहाँ भी हो–हल्ला, गर्भगृह में धरना, माइक तोड़ना और मारपीट की घटनाएँ आम होती जा रही हैं। अब तो अनेक पक्षों के नेतागण या नेता सदस्य बकायदा संकेत देकर अपने सदस्यों को खड़ा कर देते हैं और सदन की

कार्यवाही स्थगित करने के अलावा माननीय अध्यक्ष के पास कोई विकल्प नहीं रहता है। प्रश्नोत्तर काल में भी ऐसे दृश्य उपस्थित हो जाते हैं और छोटी–छोटी बातों पर सदन का समय नष्ट होता है। सार्वजनिक जीवन का यह ह्रास स्वशासन की स्थानीय संस्थाओं और सदनों के बाहर भी परिलक्षित होता है। इसलिये अब समय आ गया है कि हमारी संसद और व्यवस्थापिका सदन स्वस्थ परम्पराओं की नींव डालें ताकि संसदीय लोकतंत्र पुष्ट हो सके। यह देश हमारा है और हमारी अपनी संस्कृति और इतिहास है। भारतीय संस्कृति को आधार बनाकर हम अपने संसदात्मक प्रजातंत्र का विकास करें और अच्छी परम्पराओं को विकसित एवं सुदृढ़ करें। संसदीय लोकतंत्र पर 6 सितम्बर, 1957 को एक विचार गोष्ठी में राष्ट्र के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि "हमने संसदीय प्रणाली को स्वीकार किया है, क्योंकि समस्याओं से निदान के लिये यह एक शांतिपूर्ण तरीका है। यह तरीका है दलीलें पेश करने का, आपस में बैठकर चर्चा करने का और फैसले करने का तथा उस फैसले को स्वीकार करने का, भले ही कोई इससे इत्तफ़ाक न रखता हो। स्वाभाविक रूप में बहुमन, बहुमत होता है तो चलेगी उसकी ही, लेकिन यह बहुमत जो अल्पमत को नजर अंदाज करता है, संसदीय लोकतंत्र की सच्ची आत्मा के मुताबिक काम नही करता।" नेहरू जी का यह उद्धरण लोकतंत्र की हर एक संस्था और प्रत्येक जनप्रतिनिधि के लिये लोकतंत्र की आत्मा से साक्षात्कार कराने में समर्थ है। जरूरत इस बात की है कि इसे हृदयंगम कराने वाला वातावरण बनाने की जिम्मेदारी देश के सभी राजनीतिक दल और उनका नेतृत्व उठायें।

संदर्भ ग्रंथ

1. जैन, पुखराज. (2002). भारतीय शासन एवं राजनीति, सहित्य भवन पब्लिकेशनः आगरा।
2. कश्यप, डा. सुभाष. (1996). संसदीय प्रक्रिया, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमीः जयपुर।
3. द्विवेदी, भारती. भारतीय संविधान में भारत के प्रधानमंत्री की उपोदेयता एवं महत्व का अध्ययन, शोध पत्र।
4. सिंह, डॉ. सूर्यभान. भारतीय शासनः भारत के विभिन रूपों का संश्लेषण – शोध पत्र, जर्नल ऑफ सोशल कल्सर्नस।
5. श्यामल शक्रधर. 'संविधान और संसद', नेशनल पब्लिशिंग हाउसः नई दिल्ली।
6. अनूप मिश्रा, संसदीय पद्दत्ति ओर प्रक्रिया, लोकसभा के विशेष संदर्भ में, लोकसभा सचिवालय के लिये प्रकाशित, मेट्रोपोलिटिन बुक कम्पनी प्राइवेट सि चौथा संस्करण – 2017 आई एस बी एन – 978–81–200–0447–4
7. सुषमा गर्ग, संसदीय प्रणाली की निष्क्रियताः चुनौती और उपाय, सम्पादकीय, दैनिक जागरण।